Sanskritik aur Samajik Anusandhan
www.shodhjournal.com
ISSN: 2582-5852
Received: 01-02-2023, Accepted: 19-02-2023, Published: 07-03-2023
Volume 4, Issue 1, 2023, Page No. 3-4

परिवर्तनशील संस्कृति में निहित शाश्वतता

आशा रानी
सहायक प्रध्यापिका, हिंदी विभाग, के. एल. पी. कॉलेज, रेवाड़ी, हरियाणा, भारत

सारांश
संस्कृति हमारी अमूल्य, अतुलनीय और अद्भुत धरोहर है। यह हमारे पूर्वजों द्वारा सुदीर्घ समय में संचित अनुभवों से निर्मित उपहार है। हमारे हित, उपयोगिता और व्यवस्था की हर कसौटी पर खरी उतरने के पश्चात् ही इसका हर अंश, हर पहलु इसके भव्य रूप का हिस्सा बना है। फिर भी समय के साथ परिस्थितियों, आवश्यकताओं और दृष्टिकोण में अंतर के कारण संस्कृति में आंशिक परिवर्तन स्वभावतः आते रहते हैं। लेकिन मूल रूप में यह शाश्वत है और इस शाश्वतता को बनाए रखना और इसका सम्मान करना हम सबकी जिम्मेदारी है। हमारी संस्कृति में निहित यह शाश्वतता का गुण ही उसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठतम बनाता है। इन शाश्वत तत्वों से जुड़कर हम अपने पूर्वजों का सम्मान कर पाते हैं, उनके अनुभवों से लाभान्वित हो पाते हैं, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक समस्याओं को उत्पन्न होने से रोक पाते हैं और विश्व में अपनी विशिष्ट पहचान बना पाते हैं।

मूल शब्दः परिवर्तनशील संस्कृति, हित, उपयोगिता और व्यवस्था

प्रस्तावना

'संस्कृति' उन सभी तत्वों का समग्र रूप है जो एक स्थान या समाज के लोगों से सामान्य रूप से संबंधित होते हैं, जैसे– भाषा, पर्व, खान–पान, वेशभूषा, धर्म, मान्यताएँ, आचरण आदि। ये सभी विशेषताएँ मनुष्य जन्म के पश्चात् अपने वातावरण से सीखता है इसलिए एक समाज में रह रहे सभी लोगों की एक समान संस्कृति होती है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित हो जाती है।

संस्कृति में 'परिवर्तनशीलता' और 'शाश्वतता' दोनों प्रकार के गुण विद्यमान है। 'वसुधैव कुटूम्बकम्' की भावना पर आधारित भारतीय संस्कृति सदा ही परहित के लिए प्रेरित करती है। विविधता से परिपूर्ण और अपने–आप में समृद्ध भारतीय संस्कृति की उदारता है कि यह अन्य संस्कृतियों की अच्छी बातों को भी अपने में आत्मसात् करने की योग्यता रखती है। साथ ही उनका अंधानुकरण न करने के प्रति भी हमें सचेत करती है। इस विषय में गुलाबराय जी की विचाराभिव्यक्ति है–

''संस्कृति स्थिर वस्तु नहीं फिर भी उसमें कुछ शाश्वत तत्व हैं और कुछ परिवर्तनशील है। हमारी संस्कृति के जो शाश्वत तत्व हैं वे मानवता के तत्व हैं। अद्वेष भाव, आत्मौपम्य दृष्टि, करूणा, मैत्री ये तत्व हमको भारतीय संस्कृति ही नहीं, मानव संस्कृति की ओर ले जाते हैं। हमारा अद्वेष भाव हमको सब संस्कृतियों के उत्तम संरक्षणीय तत्त्वों को ग्रहण करने को प्रेरित करता है। दूसरों के साथ उदारता करके हम अपनी ही संस्कृति का पोषण करते हैं किंतु दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार करते हुए हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारी संस्कृति हमारे देश की जलवायु और वातावरण के अनुकूल है। हम विदेशी संस्कृति का अंधानुकरण न करें। अपनी संस्कृति पर गर्व करना सीखें। हमारी संस्कृति में बहुत–सी वैज्ञानिकता है विशेषकर खान – पान के नियमों में। 'हमारी पोशाक भी देश वातावरण के अनुकूल है। हमारी संस्कृति जीवित और सबल है।''[1]

संस्कृति नदी की तरह वेगवती है जो युगों–युगों तक बहती रहती है और यह संभव है पीढी–दर–पीढ़ी किए जाने वाले इसके हस्तांतरण से। यह सत्य है कि नई पीढ़ी को बदली हुई परिस्थितियों में इसका अनुसरण करना होता है। अतः संस्कृति में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है किंतु उसकी आधरशिला को क्षति पहुँचाए बिना। इसी विशेषता के कारण भारतीय संस्कृति समय–समय पर हुए बाहरी शक्तियों के अनेक कठोर प्रहारों को सहते हुए सुरक्षित रह सकी है। महादेवी वर्मा के विचार है– ''वह ऐसी नदी है जिसकी गति अनंत है। वह विशेष देश, काल, जलवायु से विकसित मानव–समूह की व्यक्त और अत्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरंतर है, क्योकि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ चिरंतन है, पर मनुष्य अजर–अमर नहीं। एक पीढ़ी जब अतीत के कोहरे में छिप जाती है तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक–पथ में आती है। यह नवीन पीढ़ी मानव–सामान्य अंतश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्तियो की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी, परंतु इन सबका उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियों में करना पड़ता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गन्तव्य ही खो जाता है। महान और विकसित संस्कृतियाँ इसलिए नहीं नष्ट हो गई कि उनमें स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते–होते इसलिए विलीन हो गई कि उनकी प्राण–प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, वह अतीत की वैभव–कथा ही नहीं, वर्तमान की करूण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्यके अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्त्व को समझने के लिए हमें अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अंत तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं। फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को छोड़ सहस्त्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोनें में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू–भाग तक फैली हुई है। उसमें एक सीमा से दूसरी सीमा तक आदि से अंत तक एक ही धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है। भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से काट–छाँटकर निकाली गई नहर नहीं, यह तो अनेक स्त्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली ओजस्विनी है।''[2]

भारतीय संस्कृति प्राणी मात्र के प्रति दया भाव का पोषण करती है। ऐसे भाव अगर सभी में पनपते रहें तो वर्तमान में विश्व मे बढ़ रही हिंसा, द्वेष, आतंक जैसी गंभीर समस्याओं का समाधान हो सकता है। मानवता के भाव भारतीय संस्कृति आरंभ से सिखाती रही है। महादेवी जी ने उदाहरण से स्पष्ट किया है–

''गौ के प्रति भारतीय की जो संस्कार–जन्य श्रद्धा है उसका अंकुर ऋग्वेद के प्रसिद्ध गौ–सूक्त में खोजा जा सकता है। ऋषि इस उपयोगी पशु की पूजा करके कर्त्तव्य समाप्त नहीं कर देता, वरन् उसके सुखपूर्वक जीवन की व्यवस्था भी करता है।

प्रजापती सूयवस रिशन्ती शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्ती।
मा यः स्तेन ईशत माधशसः परिवो हेती रूद्रस्य वृज्याः।।
ऋक्. 6–28–7

हे प्रजापती गौओं, तुम शोभन जौ तृण का भक्षण करो। सुंदर जलाशयों में निर्मल जल पीओ। तुम्हें तस्कर कष्ट न पहुँचाएँ। हिंसक पशु आक्रमण न करं। चोट पहुँचाने वाले आयुध तुम्हें स्पर्श न करें। गौ को अदिति आदित्यों की माता स्वरूपा मानकर उसे अवध्या कहा गया है।

गां मां हिमीरदिति विराजम्–अदिति रूपा गौ की हिंसा मत करो।''[3]

धैर्य, त्याग, सहनशीलता, सदाचार, विनम्रता, संतोष, बंधुत्व, उदारता जैसे उच्च नैतिक–गुण जिस संस्कृति के आधारभूत तत्व हो वे किसी भी परिवर्तन के कारण व्यर्थ नहीं हो सकते। किसी भी काल और स्थान की बदली हुई परिस्थितियों में असंगत नहीं हो सकते। अधर्म को धर्म से, असत्य को सत्य से, घृणा को प्रेम से जीता जा सकता है। जिनके अनेक प्रमाण ग्रंथों व अपने जीवन में हम देख सकते हैं। कितने ही विदेशी आक्रमणकारियों ने हमारी संस्कृति को कुचलने का प्रयास किया किंतु सफल नहीं हुए। यह हमारी संस्कृति की विशेषता है जो उसे शाश्वत बनाए रखती है। डॉ. राजेंद्र प्रसाद जी की इस विषय में विचाराभिव्यक्ति है–

''हर प्रकार की प्रकृति–जन्य और मावन–कृत विपदाओं के पड़ने पर भी हमारे लोगों की सृजनात्मक शक्ति कम नहीं हुई। हमारे देश में साम्राज्य बने और मिटे, विभिन्न सम्प्रदायों का उत्थान हुआ और पतन हुआ, हम विदेशियों से आक्रांत और पददलित हुए, हम पर प्रकृति और मानवों ने अनेकों बार मुसीबतों के पहाड़ ढा दिए पर फिर भी हम लोग बने रहे, हमारी संस्कृति बनी रही और हमारी जीवन और सृजनात्मक शक्ति बनी रही। हम अपने बुरे दिनों में भी ऐसे मनीषियों और कर्मयोगियों को पैदा कर सके जो संसार के इतिहास के किसी युग में अत्यन्त उच्च आसन के अधिकारी होत। अपनी दासता के दिनों में हमने गांधी जैसे कर्मठ, धर्मनिष्ठ, क्रान्तिकारी, रवीन्द्र ठाकुर जैसे मनीषी कवि को और अरविन्द जैसे योगी को पैदा किया और उन्हीं दिनों में हमने ऐसे अनेक उद्भट विद्वान् और वैज्ञानिक पैदा किए जिनका सिक्का संसार मानता है। जिन हालात में पड़कर संसार की प्रसिद्ध जातियाँ मिट गई उनमें हम न केवल जीवित ही रहे वरन् अपने आध्यात्मिक और बौद्धिक गौरव को बनाए रख सके। उसका कारण यही है कि हमारी सामूहिक चेतना ऐसे नैतिक आधार पर ठहरी हुई है जो पहाड़ों से भी मजबूत है, समुद्रों से भी गहरी है और आकाश से भी अधिक व्यापक है।''[4]

संस्कृति की शाश्वतता को बनाए रखने के लिए जरूरी है कि हमारी संस्कृति के मूल तत्त्व सिर्फ हमारी बातों और ग्रंथों तक सीमित न रहें, हमारे व्यवहार में भी परिलक्षित हों। हम सिर्फ अपनी संस्कृति का गान ही न करें, उसका पालन भी करें। ज्ञान और कर्म में अंतर का परिणाम हमें दुराचारों और विनाश की ओर ले जाता है जिनका समर्थन हमारी संस्कृति कभी नहीं करती। मानवता की पोषक भारतीय संस्कृति की सुरक्षा में फ्रिकमंद विद्यालंकार जी का मत है–

''भारतीय संस्कृति का यह स्वच्छ और विशद् रूप तभी स्थिर और सुरक्षित रह सकता है जबकि भारतीय मानव में पारलौकिक निष्ठा और देह से प्रथक् आत्मसत्ता में विश्वास हो। इस विश्वास के बिना उक्त स्वरूप मानवता अथवा मानवीय संस्कृति या भारतीय संस्कृति नहीं हो सकती। पारलौकिक निष्ठा और देह से प्रथक आत्मसत्ता में विश्वास के बिना मानव कभी समानपरक या देशपरक नही हो सकता। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि पारलौकिक निष्ठा और दहे से पृथक आत्मसत्ता में विश्वास का नाम ही वास्तव में भारतीय संस्कृति है।

धर्मी से धर्म को प्रथक् मान बैठने का परिणाम ही ऐटोमिक बम, हाइड्रोजन बम सरीखे प्रबल संहारक शस्त्रों का निर्माण होना और उनके द्वारा अनन्त प्राणियों का संहार होना है।

आज जो भारत में चोर बाजारी और घूसखोरी आदि की शिकायत है वह धर्मी को धर्म से प्रथक् मान लेने का ही परिणाम है। बहुत से लोग घंटो तक एकान्त में बैठकर भगवान् का भजन किया करते है। लोग भी इनको भक्त समझते है परन्तु जब उनके कर्म देखे जाते है तो उनसे अत्यन्त घृणा होती है क्योकि वे निंदनीय होते है। जिसका कारण यही है कि लोगों ने भगवान के नाम लेने या भजन करने को भी धर्म समझ लिया है। वास्तव में भगवान का नाम लेना मात्र धर्म नहीं है, वह धर्म का साधन तो हो सकता है परन्तु साध्यरूप धर्म नहीं। इसलिए हमारे पूर्वज महर्षियों ने कहा है कि 'आचार प्रथमों धर्म' अर्थात् सर्व प्रथम धर्म आचरण ही है। अहिंसा, सत्यादि ही शुद्धाचरण है। हिंसा करने वाला झूठ बोलने वाला चोरी करने वाला, व्यभिचारी तथा अतिलोभी होना ही दुराचारीपन है। यदि ये दुराचार नही किया करते हैं तो फिर दुराचार और क्या होगे? वास्तव में संस्कृति और धर्म में कोई अंतर नहीं। संस्कृति और सदाचार दोनों एकार्थक हैं। 'संस्कृति का अर्थ सम्यक् वृत्ति है। मानव की सम्यक् वृत्ति ही उसका धर्म है। अतः वही सम्यक् वृत्ति धर्म और संस्कृति है।''[5]

मनुष्य मात्र की मूल इच्छाएँ तथा चित्तवृत्तियाँ समान होने के कारण समस्त मानवता की संस्कृति स्वभावतः एक है। वह सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। किसी देश तथा जाति के आधार पर या किसी युग विशेष को लेकर संस्कृति का विभाजन करना संभव नहीं है। किसी देश विशेष या जाति विशेष के नाम पर संस्कृति का जो आरोपण हाते है वह उसकी भिन्नता या अनेकता का द्योतक नहीं है अपितु परंपरागत अजस्त्र स्त्रोत की अनेक शाखाएं है। उनसे मानव–संस्कृति की सार्वभौमिकता में किसी प्रकार अंतर्विरोध उत्पन्न नहीं होता। भारतीय संस्कृति मानव–संस्कृति का ही पर्याय है।

निष्कर्ष

जीवन जैसे आदि से अंत तक निरंतर सृजन है, वैसे ही संस्कृति भी निरतंर संस्कार–क्रम है। विचार, ज्ञान, अनुभव, कर्म आदि क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन–क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित है।

अगर हम स्वयं अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं तो भावी पीढ़ी भी उसका सम्मान करती है और पालन करती है। परिवर्तनशील संस्कृति में अनुकूलन व आत्मीकरण की विशेषताएँ है जिससे यह विभिन्न कालों से प्रवाहित होती हुई और विभिन्न संस्कृतियों को अपने में समाहित करती हुई अपने अस्तित्व को बरकरार किए हुए है, शाश्वत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय संस्कृति की रूपरेखाः लेखक– गुलाबराय, प्रकाशन वर्ष–वि. सं. 2008 पृष्ठ सं–26
2. मेरे प्रिय निबंधः लेखिका–महादेवी वर्मा, प्रकाशन वर्ष–सन् 1986 पृष्ठ सं.–17
3. भारतीय संस्कृति के स्वर : लेखिका–महादेवी, वर्मा प्रकाशन वर्ष–वि. सं. 2040 पृष्ठ सं.–28
4. साहित्य, शिक्षा और संस्कृतिःलेखक–डॉ. राजेंद्र प्रसाद, प्रकाशन वर्ष–सन् 1952 पृष्ठ सं.–174–175
5. भारतीय संस्कृति का मूलरूपः लेखक–इन्द्रलाल शास्त्री विद्यालंकार, प्रकाशन वर्ष वि.सं. 2013पृष्ठ सं. 8–10